अमृत काल
अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ समीक्षित एवं स्वीकृत शोध पत्रिका
ISSN: 3048-5118, खंड3, अंक1, जनवरी - मार्च 2025

वैदिक साहित्य में 'ऋत' की अवधारणा: दार्शनिक एवं सामाजिक समीक्षा

डॉ. मोनिया दीक्षित

हिंदी विभाग, बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, रोहतक

सार

वैदिक साहित्य भारतीय दर्शन, संस्कृति और सामाजिक चेतना की आधारभूमि है। इस साहित्य में 'ऋत' की अवधारणा ब्रह्मांडीय व्यवस्था, नैतिकता, सत्य और सामाजिक अनुशासन का मूल सिद्धांत मानी जाती है। ऋत केवल प्राकृतिक नियमों का द्योतक नहीं है, बल्कि यह देवताओं, मनुष्य और समाज के मध्य संतुलन स्थापित करने वाला सार्वभौमिक सिद्धांत है। प्रस्तुत समीक्षा लेख में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद के संदर्भ में 'ऋत' की अवधारणा का गहन विश्लेषण किया गया है। साथ ही इसके दार्शनिक आधार, सामाजिक प्रभाव, तथा उत्तरवैदिक काल में धर्म एवं कर्म सिद्धांत के रूप में हुए रूपांतरण की आलोचनात्मक विवेचना की गई है। यह अध्ययन यह प्रतिपादित करता है कि ऋत भारतीय दार्शनिक चिंतन की केन्द्रीय धुरी है, जिसकी प्रासंगिकता समकालीन पर्यावरणीय, नैतिक एवं सामाजिक संकटों के समाधान में आज भी बनी हुई है।

ऋत, वैदिक साहित्य, धर्म, सत्य, कर्म, सामाजिक व्यवस्था

(भूमिका)

वैदिक साहित्य भारतीय बौद्धिक परंपरा का प्राचीनतम एवं सर्वाधिक प्रभावशाली स्रोत है। यह साहित्य केवल धार्मिक अनुष्ठानों अथवा देव-स्तुतियों का संकलन नहीं है, बल्कि यह उस कालखंड के मानव जीवन, प्रकृति-बोध, सामाजिक संरचना और दार्शनिक जिज्ञासा का समग्र प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है। वैदिक ऋषियों ने ब्रह्मांड को एक सुव्यवस्थित, नियमबद्ध और अर्थपूर्ण संरचना के रूप में देखा, न कि किसी आकस्मिक या अराजक सत्ता के रूप में। इसी समन्वित विश्वदृष्टि के केंद्र में 'ऋत' की अवधारणा विकसित हुई, जो वैदिक चिंतन की आत्मा मानी जाती है।

वैदिक काल में मानव और प्रकृति के बीच गहन आत्मीय संबंध था। प्रकृति को केवल उपभोग की वस्तु न मानकर, उसे एक जीवंत, चेतन और नियमबद्ध सत्ता के रूप में देखा गया। सूर्य, चंद्रमा, अग्नि, वायु और वर्षा—ये सभी केवल प्राकृतिक तत्व नहीं थे, बल्कि ऋत के वाहक माने जाते थे। ऋषियों ने अनुभव किया कि प्रकृति की यह नियमितता किसी अदृश्य लेकिन सार्वभौमिक नियम द्वारा संचालित है, जिसे उन्होंने 'ऋत' कहा।

ऋत को वैदिक चिंतन में उस शाश्वत नियम के रूप में स्वीकार किया गया, जिसके अधीन सृष्टि की समस्त गतिविधियाँ संचालित होती हैं। सूर्य का समय पर उदय और अस्त, ऋतुओं का आवर्तन, जल-चक्र, जीवन और मृत्यु की प्रक्रिया—ये सभी ऋत के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। किंतु ऋत केवल भौतिक अथवा प्राकृतिक नियम नहीं है; यह नैतिकता, सत्य, कर्तव्य और सामाजिक अनुशासन का भी मूल आधार है। वैदिक दृष्टि में प्रकृति और नैतिकता पृथक नहीं थीं; दोनों एक ही ब्रह्मांडीय सत्य के विविध आयाम थे।

आधुनिक विद्वानों ने ऋत को मानव सभ्यता में विकसित सबसे प्रारंभिक दार्शनिक एवं नैतिक सिद्धांतों में से एक माना है। मैक्स मूलर के अनुसार, ऋत वैदिक धर्म का केंद्रीय तत्व है, जिससे आगे चलकर सत्य (Satya), धर्म (Dharma) और कर्म जैसी महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ विकसित हुईं। एस. राधाकृष्णन ने भी ऋत को भारतीय दर्शन की नैतिक चेतना का आद्य रूप माना है। इस दृष्टि से ऋत केवल वैदिक युग तक सीमित अवधारणा नहीं है, बल्कि संपूर्ण भारतीय दार्शनिक परंपरा की आधारशिला है।

अमृत काल
अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ समीक्षित एवं स्वीकृत शोध पत्रिका
ISSN: 3048-5118, खंड3, अंक1, जनवरी - मार्च 2025

प्रस्तुत समीक्षा लेख का उद्देश्य वैदिक साहित्य में ऋत की अवधारणा का दार्शनिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में समग्र अध्ययन करना है। इस लेख में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार ऋत ने वैदिक समाज की नैतिक संरचना, राजनीतिक चेतना, सामाजिक व्यवहार और धार्मिक आस्थाओं को दिशा प्रदान की। साथ ही यह भी विश्लेषण किया गया है कि उत्तरवैदिक काल में किस प्रकार ऋत की अवधारणा धर्म और कर्म सिद्धांत के रूप में विकसित एवं रूपांतरित हुई।

ऋत:

व्युत्पत्ति एवं भाषिक विवेचन 'ऋत' शब्द संस्कृत की 'ऋ' धातु से निष्पन्न माना जाता है, जिसका मूल अर्थ है—गमन करना, प्रवाहित होना, क्रम में होना अथवा नियमित गति से चलना। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से ऋत का तात्पर्य 'नियमित क्रम' या 'सही व्यवस्था' से है। यही कारण है कि वैदिक साहित्य में ऋत को ब्रह्मांडीय व्यवस्था का प्रतीक माना गया है।

निरुक्तकार यास्क के अनुसार, ऋत वह सत्य है जो क्रिया और व्यवस्था में प्रतिफलित होता है। जहाँ 'सत्य' वाणी और चिंतन से जुड़ा है, वहीं 'ऋत' कर्म और सृष्टि-व्यवस्था से संबंधित है। इस प्रकार ऋत और सत्य परस्पर पूरक अवधारणाएँ हैं। वैदिक काल में यह स्पष्ट माना गया कि जो व्यक्ति सत्य का आचरण करता है, वह वस्तुतः ऋत के मार्ग पर चलता है।

ऋग्वेद में 'ऋत' शब्द का प्रयोग सौ से अधिक बार विभिन्न संदर्भों में हुआ है। कहीं यह सूर्य के मार्ग का संकेत करता है, तो कहीं देवताओं के नैतिक आचरण का। उदाहरणस्वरूप, सूर्य को 'ऋतस्य पन्था' अर्थात ऋत के मार्ग पर चलने वाला कहा गया है। यह इस बात का प्रतीक है कि ऋत ऐसा मार्ग है जिससे विचलन संभव नहीं है।

भाषिक दृष्टि से ऋत का संबंध आगे चलकर 'धर्म' शब्द से स्थापित हुआ। जहाँ ऋत ब्रह्मांडीय नियम था, वहीं धर्म उसका सामाजिक और व्यवहारिक रूप बन गया। यह परिवर्तन उत्तरवैदिक काल में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। परंतु मूल भाव—नियम, संतुलन और न्याय—दोनों में समान रहा।

पाश्चात्य विद्वानों ने ऋत की तुलना यूनानी 'कॉस्मोस' (Cosmos) और लैटिन 'ऑर्डर' (Order) की अवधारणा से की है। किंतु ऋत इनसे अधिक व्यापक है, क्योंकि इसमें नैतिकता, आध्यात्मिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व का भी समावेश है। इस प्रकार ऋत केवल एक भाषिक या दार्शनिक संकल्पना नहीं, बल्कि वैदिक विश्वदृष्टि का सर्वांगीण आधार है।

ऋग्वेद

ऋग्वेद में ऋत की अवधारणा ऋग्वेद वैदिक साहित्य का प्राचीनतम ग्रंथ है और इसमें 'ऋत' की अवधारणा सर्वाधिक विकसित एवं दार्शनिक रूप में प्राप्त होती है। ऋग्वैदिक ऋषियों ने सृष्टि को एक सुव्यवस्थित और नियमबद्ध संरचना के रूप में देखा, जिसका संचालन ऋत नामक सार्वभौमिक सिद्धांत के अंतर्गत होता है। ऋग्वेद में ऋत को केवल प्राकृतिक नियम नहीं, बल्कि नैतिक और दैवी व्यवस्था का मूल माना गया है।

ऋग्वेद के अनुसार सूर्य का नियमित उदय-अस्त, ऋतुओं का परिवर्तन, जलचक्र, अग्नि का दाहक स्वरूप तथा वायु का प्रवाह—ये सभी ऋत के अधीन हैं। ऋग्वैदिक ऋषियों के लिए यह व्यवस्था स्वतःस्फूर्त नहीं थी, बल्कि एक शाश्वत नियम के कारण संभव थी। यही नियम ऋत कहलाया। इस प्रकार ऋत को सृष्टि की आंतरिक संगति (inner coherence) कहा जा सकता है।

ऋग्वेद में यह भी स्पष्ट किया गया है कि देवता स्वयं ऋत के अधीन हैं। वे ऋत के निर्माता नहीं, बल्कि उसके पालनकर्ता हैं। यह विचार अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे वैदिक दर्शन की नियम-प्रधान (law-governed) प्रकृति प्रकट होती है। देवता भी ऋत से ऊपर नहीं हैं, बल्कि उसी के अनुसार कार्य करते हैं।

अमृत काल
अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ समीक्षित एवं स्वीकृत शोध पत्रिका
ISSN: 3048-5118, खंड3, अंक1, जनवरी - मार्च 2025

3.1 वरुण और ऋत

ऋग्वेद में वरुण को ऋत का सर्वप्रमुख संरक्षक और नैतिक अधिपति माना गया है। वरुण को 'ऋतस्य गोपा' अर्थात ऋत का रक्षक कहा गया है। वह समस्त सृष्टि पर दृष्टि रखता है और यह सुनिश्चित करता है कि ऋत का उल्लंघन न हो। वरुण का स्वरूप केवल प्राकृतिक देवता का नहीं, बल्कि नैतिक न्यायाधीश का है।

वरुण मनुष्य के कर्मों का निरीक्षण करता है और ऋत-विरोधी आचरण करने वालों को दंड देता है। पाप, असत्य और अन्याय को वरुण के कोप का कारण माना गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ऋत केवल बाह्य प्राकृतिक व्यवस्था नहीं, बल्कि आंतरिक नैतिक अनुशासन भी है।

वरुण के इस नैतिक स्वरूप में वैदिक समाज की न्याय-चेतना प्रतिबिंबित होती है। यह विचार आगे चलकर कर्म सिद्धांत और नैतिक उत्तरदायित्व की अवधारणा का आधार बना।

3.2 मित्र, सूर्य और ऋत

मित्र को ऋग्वेद में सामाजिक सौहार्द, अनुबंध और विश्वास का देवता माना गया है। मित्र का संबंध ऋत से इसलिए है, क्योंकि सामाजिक जीवन की स्थिरता और विश्वास भी ऋत के अधीन माने गए। मित्र और वरुण को प्रायः संयुक्त रूप से 'मित्रावरुण' कहा गया है, जो ऋत के नैतिक और सामाजिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सूर्य को 'ऋतस्य पन्था' कहा गया है, अर्थात वह ऋत के मार्ग पर चलने वाला है। सूर्य का नियमित गमन ऋत का प्रत्यक्ष और दृश्य प्रतीक है। सूर्य न केवल प्रकाश का स्रोत है, बल्कि सत्य और ज्ञान का भी प्रतीक है। इस प्रकार सूर्य ऋत और सत्य के संबंध को मूर्त रूप देता है।

इंद्र, जो शक्ति और युद्ध के देवता हैं, उन्हें भी ऋत के अधीन माना गया है। यद्यपि इंद्र को कभी-कभी उग्र और अस्थिर रूप में चित्रित किया गया है, फिर भी उनका प्रमुख कार्य ऋत-विरोधी शक्तियों—असुरों और अराजक तत्वों—का विनाश करना है। इस प्रकार इंद्र भी ऋत की रक्षा में संलग्न देवता हैं।

यजुर्वेद

यजुर्वेद एवं सामवेद में ऋत यजुर्वेद में ऋत की अवधारणा यज्ञीय व्यवस्था से गहराई से जुड़ी हुई है। यज्ञ को वह माध्यम माना गया, जिसके द्वारा मनुष्य ऋत के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकता है। यज्ञ के माध्यम से देवताओं को आहुतियाँ दी जाती हैं और बदले में ऋत की निरंतरता सुनिश्चित की जाती है। इस प्रकार यज्ञ ऋत का मानवीय अनुष्ठानिक रूप बन जाता है।

यजुर्वेद में यज्ञ के नियम, मंत्र और विधियाँ अत्यंत सुव्यवस्थित हैं। यह सुव्यवस्था स्वयं ऋत का प्रतिबिंब है। यदि यज्ञ विधि-विधान के अनुसार संपन्न होता है, तो माना जाता है कि ब्रह्मांडीय संतुलन बना रहता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ऋत और कर्मकांड परस्पर गहराई से जुड़े हुए हैं।

सामवेद

सामवेद में ऋत का स्वरूप अधिक सौंदर्यात्मक और अनुभूतिपरक है। सामवेद के मंत्र संगीतात्मक हैं और इनके माध्यम से ऋत की अनुभूति भावात्मक स्तर पर कराई जाती है। सामगान को केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि ब्रह्मांडीय लय के साथ आत्मा के तादात्म्य का साधन माना गया।

अमृत काल
अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ समीक्षित एवं स्वीकृत शोध पत्रिका
ISSN: 3048-5118, खंड3, अंक1, जनवरी - मार्च 2025

सामवेद यह संकेत देता है कि ऋत केवल नियम या अनुशासन नहीं, बल्कि लय (rhythm) और सौंदर्य (harmony) भी है। इस दृष्टि से ऋत को ब्रह्मांडीय संगीत कहा जा सकता है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद में ऋत और सामाजिक जीवन अथर्ववेद में ऋत की अवधारणा अधिक व्यावहारिक और सामाजिक रूप में प्रस्तुत होती है। यहाँ ऋत को रोग-निवारण, पारिवारिक शांति, सामाजिक समृद्धि और राजनीतिक स्थिरता से जोड़ा गया है। अथर्ववेद यह दर्शाता है कि यदि समाज ऋत के अनुसार आचरण करता है, तो वह रोग, कलह और अशांति से मुक्त रहता है।

अथर्ववेद में राजा से अपेक्षा की गई है कि वह ऋत के अनुसार शासन करे। ऋत-विरुद्ध शासन को सामाजिक विनाश का कारण माना गया है। इस प्रकार अथर्ववेद में ऋत एक सामाजिक-राजनीतिक सिद्धांत के रूप में उभरता है।

अथर्ववेद का यह सामाजिक दृष्टिकोण यह स्पष्ट करता है कि ऋत केवल दार्शनिक संकल्पना नहीं, बल्कि दैनिक जीवन का मार्गदर्शक सिद्धांत है।

यजुर्वेद में ऋत यज्ञीय व्यवस्था से जुड़ा है। यज्ञ को ऋत का मानवीय रूप माना गया है। सामवेद में ऋत का सौंदर्यात्मक एवं सांगीतिक पक्ष उभरता है।

अथर्ववेद में ऋत और सामाजिक जीवन अथर्ववेद में ऋत को सामाजिक शांति, स्वास्थ्य और समृद्धि से जोड़ा गया है। यह दर्शाता है कि ऋत का उद्देश्य केवल दार्शनिक नहीं, व्यावहारिक भी है।

ऋत और सत्य का संबंध वैदिक दर्शन में 'ऋत' और 'सत्य' के मध्य अत्यंत घनिष्ठ और अविच्छिन्न संबंध स्थापित किया गया है। ऋग्वैदिक चिंतन में ऋत को ब्रह्मांडीय नियम या सार्वभौमिक व्यवस्था माना गया, जबकि सत्य को उसका मानवीय, नैतिक और भाषिक रूप स्वीकार किया गया। सरल शब्दों में कहा जाए तो ऋत वह सत्य है जो सृष्टि में क्रियाशील है और सत्य वह ऋत है जो मानव वाणी, चिंतन और आचरण में अभिव्यक्त होता है।

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर सत्य और ऋत का संयुक्त प्रयोग मिलता है, जैसे—'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्'—जिससे यह संकेत मिलता है कि दोनों को अलग-अलग नहीं, बल्कि परस्पर पूरक तत्वों के रूप में देखा गया। वैदिक ऋषियों के लिए सत्य केवल तथ्यात्मक कथन नहीं था, बल्कि वह नैतिक और आध्यात्मिक प्रतिबद्धता का प्रतीक था। जो व्यक्ति सत्य बोलता और सत्य का आचरण करता है, वह वस्तुतः ऋत के मार्ग पर चलता है।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि वैदिक समाज में असत्य को केवल नैतिक दोष नहीं, बल्कि ब्रह्मांडीय व्यवस्था के विरुद्ध आचरण माना गया। असत्य बोलना या छल करना ऋत के उल्लंघन के समान था, जिसके दुष्परिणाम केवल व्यक्ति तक सीमित नहीं रहते थे, बल्कि सामाजिक और प्राकृतिक असंतुलन का कारण भी बनते थे। इस प्रकार ऋत–सत्य का संबंध वैदिक नैतिकता का मूलाधार बन गया।

निष्कर्ष

वैदिक साहित्य में 'ऋत' की अवधारणा भारतीय दर्शन की आत्मा है। यह केवल प्राकृतिक नियम नहीं, बल्कि नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन का मार्गदर्शक सिद्धांत है। ऋत ने सत्य, धर्म और कर्म जैसी अवधारणाओं को जन्म देकर भारतीय चिंतन को एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया। आज भी यदि मानव समाज ऋत के सिद्धांतों को अपनाए, तो वैश्विक संकटों का समाधान संभव है।

(मूल ग्रंथ)

[1]. ऋग्वेद, सायणभाष्य सहित। चौखंबा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
[2]. यजुर्वेद (शुक्ल यजुर्वेद), सायणभाष्य सहित। गीता प्रेस, गोरखपुर।
[3]. यजुर्वेद (कृष्ण यजुर्वेद – तैत्तिरीय संहिता)। चौखंबा प्रकाशन, वाराणसी।
[4]. सामवेद, सायणभाष्य सहित। चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी।
[5]. अथर्ववेद, सायणभाष्य सहित। चौखंबा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी।
[6]. शतपथ ब्राह्मण (माध्यंदिन शाखा)। चौखंबा ओरिएंटल रिसर्च।
[7]. ऐतरेय ब्राह्मण। चौखंबा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
[8]. तैत्तिरीय ब्राह्मण। चौखंबा प्रकाशन।
[9]. बृहदारण्यक उपनिषद् (शांकरभाष्य सहित)। गीता प्रेस, गोरखपुर।
[10]. छांदोग्य उपनिषद् (शांकरभाष्य सहित)। गीता प्रेस, गोरखपुर।
[11]. ईशावास्य उपनिषद्। चौखंबा प्रकाशन।
[12]. निरुक्त – यास्क। चौखंबा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी।